वर्ष–1, अंक–1, जनवरी–मार्च 2021

सबद निरन्तर

कृष्णा सोबती : केंद्रित

सम्पादक : राकेश कुमार सिंह

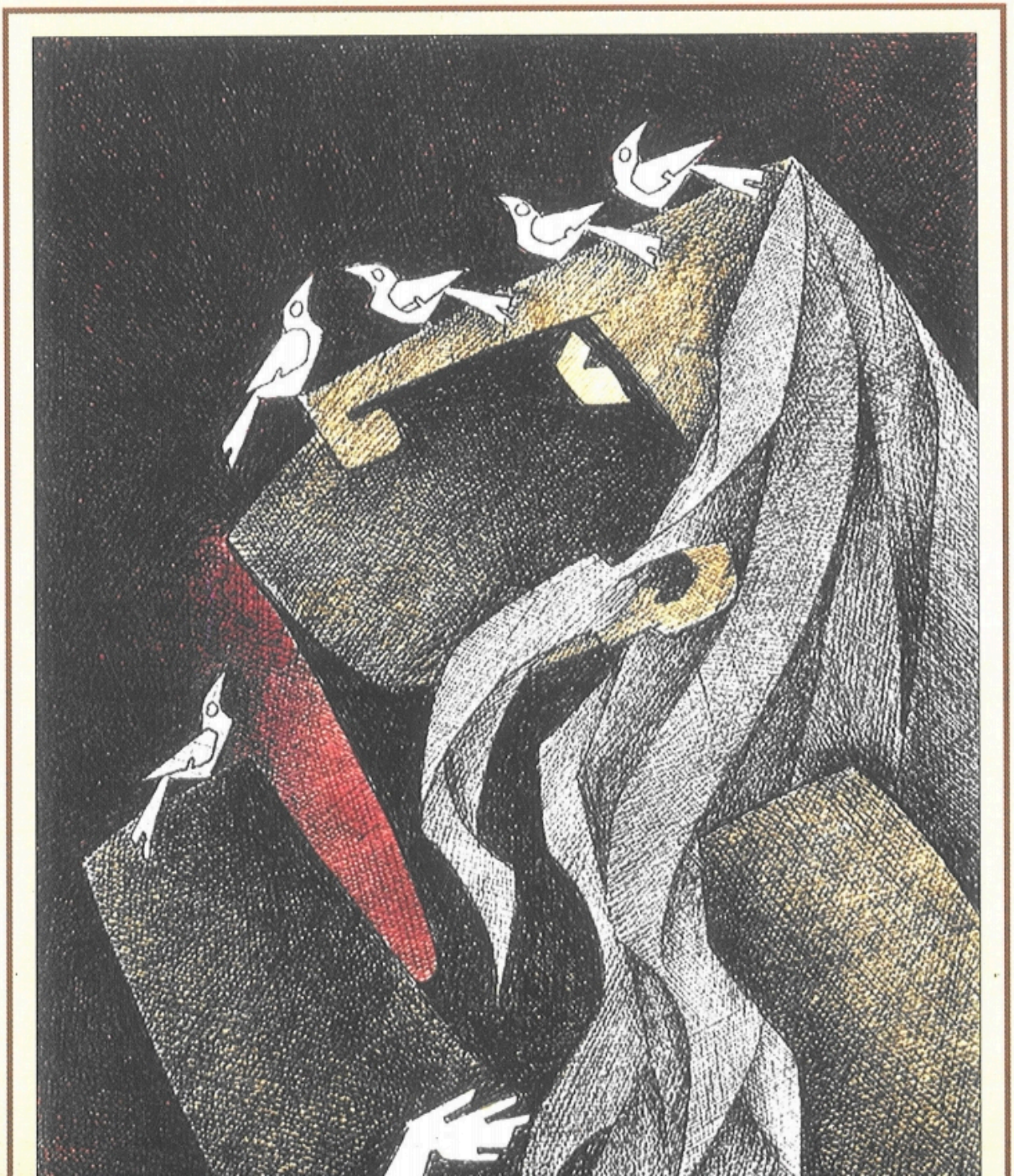

कृष्णा सोबती : भाषा का जनतंत्र

–डॉ. रेखा सेठी

कृष्णा सोबती का लेखन उनके व्यक्तित्व की ही तरह विराट् है। कृष्णा जी का नाम आते ही उनका हँसता हुआ चेहरा सामने आ जाता है। मंद-सी मुस्कान हर क्षण होंठों के कोरों से बिखरती हुई जैसे कहती हो कि मेरी आँखों से भी दुनिया देखो। उनकी कलम से रची जाती दुनिया में अलग-अलग रंग हैं, ज़िंदगी के ऐसे टुकड़े जो अपने आप में पूरे हैं। पंजाब की पंजाबियत, सोबती की सोहबत बनकर उसमें रची-बसी है। 'ज़िंदगीनामा' और 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' हो या 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अँधेरे के' या 'ऐ लड़की'–कृष्णा जी ज़िंदगी का कोई न कोई अछूता पक्ष पन्नों पर उतार देती हैं। सभी उपन्यास अपनी जमीन से उपजे पात्रों और परिवेश को साथ-साथ साकार कर देते हैं। जैसे ज़िंदगी की धूप का कोई टुकड़ा।

इन रचनाओं में सामाजिक परिवेश इस तरह उभरता है कि हर रचना के भीतर से एक नया सत्य उजागर हो जाता है। उनके लेखन का कैनवस बहुत बड़ा है। एक तरफ वहाँ विभाजन का दर्द है तो दूसरी तरफ स्त्री जीवन की अनंत छवियाँ, जिनमें आकांक्षा, संयम, उत्साह और चुप्पी के कहे-अनकहे रूपक गढ़े जाते हैं। उनके शब्दों से गुजरते हुए सर्जक कृष्णा सोबती की छवि लगातार उद्‌भासित होती रहती है जो बतौर गवाह इन सब में मौजूद हैं, लिप्त भी और तटस्थ भी। कृष्णा सोबती का कथा संसार जिस ताप से जगमगाता है, उसकी रोशनी दूर तक जाती है। उतना ही महत्त्वपूर्ण उनका कथेत्तर गद्य भी है। उसमें विविधता व विस्तार के साथ-साथ सर्जक की उस दृष्टि की पहचान होती है जो अपने रचना-कर्म में कल्पना और यथार्थ को, शब्दों की नोक पर ऐसे बुनता है कि न कुछ अतिरिक्त रहे, न कम। 'सोबती-वैद संवाद', 'शब्दों के आलोक में' तथा 'लेखक का जनतंत्र', कृष्णा जी के चिंतक रूप के साक्षी हैं। उनका चिंतन लेखक की जिम्मेदारी से लेकर रचना-प्रक्रिया की दुश्वारियों और उसके बीच लेखकीय उत्तरदायित्व के साथ, नए विषय और नई अभिव्यक्ति खोजने और पाने की कठिन यात्रा का पड़ाव है।

रचनाकार के उत्तरदायित्व और रचना-प्रक्रिया को समझना किसी लेखक के लिए भी आसान नहीं है। जैसे मुक्तिबोध अपनी कविता और अपने चिंतन में एक गहरे आत्मसंघर्ष से गुजरते हैं और जीवन भर अभिव्यक्ति की खोज के लिए प्रतिबद्ध रहे हैं, उसी तरह कृष्णा सोबती हर रचना में गहरे अंतर्द्वंद्व से गुजरती दिखाई देती हैं। साहित्य के रूढ़िबद्ध प्रतिमानों

को वे कुछ इस रूप में चुनौती देती हैं कि उससे उनकी लेखकीय निष्ठा उजागर होती है। उन्होंने अपने साहित्य में एक नए सौंदर्यशास्त्र की खोज की है। 'चन्ना' की छपाई के बाद उसे वापस ले लेने का निर्णय मात्र उनका हठ नहीं था। अपने लेखन, अपनी भाषा के प्रति अपने दायित्व-बोध का स्वीकार है।

'ज़िंदगीनामा' की भाषा को लेकर उनकी बहुत बार आलोचना हुई। भाषा के शुद्धतावादी आग्रह के कारण इस भाषा के प्रति दुराग्रह बना रहा। उस समय के प्रतिष्ठित लेखकों, भगवतीचरण वर्मा तथा अमृतलाल नागर ने कृष्णा जी को सावधान करने की कोशिश की, कि ऐसी पंजाबी मिश्रित हिन्दी चल नहीं पाएगी, तो कृष्णा जी ने अपनी या अपने लेखन की स्वीकार्यता बनाने के लिए अपना रास्ता नहीं बदला। एक लेख में उन्होंने यहाँ तक लिखा ''नागरी भाषा किसी की बपौती नहीं। उसका तामझाम सिर्फ कुर्सीनशीनी नहीं। सिर्फ अमलदारी नहीं। सिर्फ पुरोहिताई नहीं। हिन्दी-संस्कृत महारानी की पुरानी धोती ही नहीं। वह अपनी जन्मजात सामर्थ्य में जीवंत भाषा है।" (शब्दों के आलोक में, पृष्ठ-345) उन्होंने गद्य भाषा के रूप में हिन्दी की सामासिक बहुलता को स्वीकार किया; क्योंकि उसी से उसका जनभाषा का रूप बनता है। जिस तरह फणीश्वरनाथ रेणु ने आंचलिक ध्वनियों से भाषा की लय बदल दी, उसी तरह कृष्णा सोबती ने अपने हर उपन्यास में भाषा की अलग तर्ज पकड़ने की कोशिश की, जिसमें कहीं पंजाबी, तो कहीं राजस्थानी, या फिर उर्दू आदि भाषाओं के शब्द हिन्दी में इस कदर घुल-मिल गए हैं कि भाषा का नया रूप बनता है। 'शब्दों के आलोक में' उन्होंने लिखा–''रचनात्मक स्तर पर किसी भी पाठ की भाषिक संरचना जितनी सीधी-सादी और सरल होने का आभास देती है, उतनी ही संश्लिष्ट गूँथ उसकी बनावट और बुनावट में होती है। शब्दों के गंभीर और विशिष्ट गतिशील रंग एक साथ पाठ के वजूद को उसके अस्तित्व और पहरन को एक धड़कती लिखित के रूप में प्रस्तुत कर रहे होते हैं। शब्दों के संयोजन से पाठ वृतांत अथवा संवाद के प्रत्याशित और अप्रत्याशित तक पहुँच पाना, शब्दों को, ध्वनि को स्फूर्त रंग-रूप में ढालकर उनके अर्थों का आलोक ब्रश द्वारा अंकन के समान ही उभरता चला आता है।" (पृष्ठ-345) शब्दों की आत्मा अनुभव के ताप से निखरती है। कृष्णा जी ने अनुभव के हिसाब से भाषा को एक ऐसा रंग दिया जो अपने आप में साहित्य की मिसाल है। इसकी सार्थकता केवल हिंदी में पंजाबी या राजस्थानी या गुजराती के कुछ शब्द मिला देने भर से नहीं आती,बल्कि इस बात से पैदा होती है कि हर उपन्यास के लिए लेखक कितनी तैयारी करता है। उनके अनुसार ''भाषा सिर्फ वह नहीं जिसे हम व्याकरण के मुताबिक सीखते-पढ़ते हैं। लिखते हैं। भाषा वह भी है जिसे आप जीते हैं, जीकर अर्जित करते हैं। रचनात्मक स्तर पर उसका प्रयोग करते हैं।" (सोबती-वैद संवाद पृष्ठ-102) कृष्णा जी की यह भाषा सजगता ही उन्हें लेखकों की विशिष्ट पंक्ति में स्थापित करती है। कृष्णा जी की भाषिकसजगता अनेक स्तरों पर सक्रिय रहती है। भाषा की दृष्टि से 'ज़िंदगीनामा' इतिहास के एक काल-खंड को सजीव करने के साथ-साथ अविभाजित पंजाब की बोलीबानी का शब्दचित्र है, जो मिट्टी की

गंध से महकता है और झेलम, चेनाब के झिलमिल पानी की द्विआभा से जीवन-वृक्ष सींचता हुआ स्वयं ही पन्नों पर उतर आया है।

"पिंड के कच्चे कोठे चम्मचम्म चमकने लगे। दमकने लगे। चान्ननी ने सजरी लिपाई से खेत-खलियान, रुख-वृक्ष उजला-उजला दिए।

कुओं के मिट्ठड़े सुर झलमल-झलमल हियरोंको हुलसाने लगे।

बेटों-बछड़ों के साथ घरों को लौटते बलदों की जोड़ियाँ जी की तृखा-प्यास जगाने लगीं।

चूल्हों से उठती उपलों की कच्ची गंध हर कोठे हर चौके को महकाने-लहकाने लगी!

रब्बा, ये सोहणेसमय मनुक्खोंके साथ लगे रहें। सजे रहें।" (ज़िंदगीनामा, पृष्ठ-17)

यह उपन्यास उनके लिए नहीं है जो भाषा की शुद्धता को जड़ता की हद तक बचाने की कोशिश करते हैं। इस भाषा की विलक्षणता अपने कथ्य का रूप विस्तार करते हुए उसका अभिन्न अंग हो जाने में है। सामान्य हिन्दी पाठक के लिए इसके शब्द अपरिचित हो सकते हैं, लेकिन जिस भूखंड की वह कहानी है उसकी लय को जीवंत करने में यह प्रयोग अप्रतिम है। इस उपन्यास की संरचना महाकाव्यात्मक है। उसी के अनुरूप इसकी भाषा उस जीवन-शैली को अपने सच्चे खरे रूप में अभिव्यक्त करने का बृहद् दायित्व वहन करती है। हालाँकि, उसकी मुहावरेदारी को आलोचकों ने एकमत से स्वीकार नहीं किया; लेकिन कृष्णा जी ने भाषा के जनतंत्र में अपने दृढ़ विश्वास को कम नहीं होने दिया, बल्कि जीवन के अंत तक 'ज़िंदगीनामा' उनके हृदय के सबसे निकट बना रहा।

उनकी लंबी कहानी 'यारों के यार' भी, अपने भाषाई तेवर के लिए हिंदी समाज द्वारा कटघरे में खड़ी कर दी गई। यह कहानी, नौकरशाही की ऊँच-नीच में फँसे उन लाचार बाबुओं की कहानी है जो अपनी विवशता को अपनी भाषा के तुर्श तेवर में छिपा लेना चाहते हैं। "एक तगड़ी गाली सूरी के होंठों तक आई, मगर दरवाजे पर बड़ेबाबू को देख मुहरबंद हो गई। झुँझलाकर अपनी मेज की ओर बढ़ा, कुर्सी खींची और कलमदान से कलम उठाते हुए बुड़बुड़ा दिया "जनखे साले माँ के यार को मामा ही कहेंगे।" (यारों के यार, पृष्ठ-24) कहानी की यह भाषा जिस तरह बारीक डीटेल को पकड़ती है उससे पूरा दृश्य गतिशील जीवंत भाषा में साकार हो जाता है; लेकिन यह अत्यंत दुःख की बात है, कि हिंदी समाज का ध्यान उस विवशता पर न जाकर इस कहानी की भाषा में अपशब्दों के प्रयोग की तरफ ज्यादा गया। निर्मला जैन ने अपनी पुस्तक 'कथा समय में तीन हमसफर' में लिखा है, "इसके छपते ही साहित्य की दुनिया में एक अजब हलचल-सी मच गई। सबका ध्यान विषयवस्तु से अधिक उस में आने वाले अपशब्दों पर अधिक गया। साहित्यकारों और आलोचकों ने उस भाषा के औचित्य पर प्रश्न उठाए। कृष्णा जी के लिए चुनौती साफ थी—यदि यही कहानी किसी पुरुष ने लिखी होती, तो उसे लेखक की स्वतंत्रता का सवाल मानकर इतना बवाल न मचता।" साफ है कि यह सिर्फ भाषा का सवाल नहीं, जेण्डर का भी सवाल है। खासतौर पर लेखक के जेण्डर का सवाल। कृष्णा जी को स्त्री-पुरुष के भेद पर भाषा का यह बँटवारा कतई स्वीकार नहीं था। उनका

कहना था कि 'कार्यालयी माहौल में गालियों का इस्तेमाल तो तकिया कलाम की तरह धड़ल्ले से होता है और वहाँ फिर गालियाँ गालियाँ नहीं लगतीं। 'यारों के यार' में गालियों का अत्यंत सजग प्रयोग हुआ है और सतर्क भी। दफ्तरी व्यवहार में ये गालियाँ अश्लील नहीं लगतीं, बल्कि नौकरी के जिस माहौल में सूरी जैसे लोग अपनी दयनीयता को अपनी भाषा के पौरुष से ढक लेना चाहते हैं, वहाँ ये गालियाँ अनेक व्यंजनाएँ पैदा करती हैं।''

निर्मला जैन, इस पूरे विवाद पर विस्तार से विचार करते हुए यह राय रखती हैं कि ''एक स्त्री की कलम से ऐसी भाषा और ऐसी कहानी का आना सबके लिए एक चुनौती बन गया था। कृष्णा जी ने सभी आक्षेपों के उत्तर अत्यंत धैर्य से दिए। बिना विचलित हुए इन सवालों के उत्तर में उन्होंने भी कुछ सवाल उठाए।सबसे पहले तो यही था कि क्या साहित्यिक भाषा रचनाकार के भेद से जनानी और मरदानी होनी चाहिए? दूसरा, कि रचना में यथार्थ के आग्रह से यदि एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जिसमें सब कुछ साफ-साफ बिना किसी पर्दादारी के ढंग से कहा जाए, तो उसका उपयोग करने में झिझक कैसी? श्रीकांत वर्मा ने भी उस समय एक सवाल उठाया था और वे इस भाषा के सार्थक प्रयोग का सवाल था। कृष्णा जी का उत्तर था कि जब अतिरिक्त सजगता या सतर्कता से किन्हीं चौकानेवाले शब्दों यानी गालियों का प्रयोग किया जाता है, तो वे अपना लक्ष्य पूरा नहीं करते।'' नई कविता और नई कहानी के दौर में यह चिंतन हुआ, कि अभिव्यक्ति के रूप लगातार दोहराए जाने पर सिक्कों की खनक की तरह अपनी खनक खो बैठते हैं। उन्हें बार-बार नई अर्थवत्ता देने के लिए पूरे कथा विन्यास को, कहानी के पूरे भाषिक विन्यास को पलट कर कुछ इस तरह इस्तेमाल करना होता है कि वह नयेपन के साथ-साथ उस अर्थ को लंबे समय तक ध्वनित करता रह सके। 'यारों के यार' कहानी कृष्णा सोबती द्वारा कुछ ऐसा ही प्रयास है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'कुछ कहानियाँ : कुछ विचार' पुस्तक में इस कहानी में भाषा के इस तेवर के विरुद्ध यह तर्क दिया कि 'रचना सांस्कृतिक प्रक्रिया है।' अतः उसमें लेखक को कलात्मक संयम इस्तेमाल करना ही चाहिए। इन अपशब्दों का प्रयोग अनौपचारिक बातचीत में तो होता है, लेकिन यथार्थ के नाम पर उसे रचना में पिरो देना अनावश्यक है। 'रचना में शायद वे चौंकाते हैं या अरुचि उत्पन्न करते हैं।' ऐसे तमाम सवालों के उत्तर में कृष्णा जी ने जो कहा उसे निर्मला जैन की पुस्तक में उद्धृत किया गया है–''स्थानीय दफ्तरी माहौल, जिस मर्दाना वाचन की शाब्दिक ध्वनियों से उभरता है, उससे पाठ की मर्यादा लेखक क्यों भंग करे। बोलियों और किसी हद तक भाषा में भी गालियों की अपनी सामाजिक हैसियत है। इन्हें इस्तेमाल करने में लेखक को क्यों परेशान होना चाहिए।" (कथा समय में तीन हमसफर, पृष्ठ-64-65) इस पूरे विवाद पर टिप्पणी करते हुए निर्मला जैन लिखती हैं, '' 'यारों के यार' में अपशब्दों की गिनती में आने वाले प्रयोगों ने यदि कुछ लोगों का जायका बिगाड़ा या उनकी शालीनता को ठेस पहुँचाई तो क्या इसके पीछे महिला-कलम की मौजूदगी का एहसास नहीं रहा? यही कहानी अगर कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव की कलम से आई होती तो थोड़ी-बहुत छींटाकशी से ज्यादा कुछ ना होता, यह लगभग तय है।'' (वही, पृष्ठ-65)

'मित्रो मरजानी' के कथ्य और अभिव्यक्ति को लेकर भी शील-अश्लील का प्रश्न बना रहा। अज्ञेय ने तो बहुत पहले ही कहा था, अधूरा देखना ही अश्लील देखना है। कृष्णा सोबती ने अपने स्तर पर इस चुनौती का सामना किया। दरअसल, समाज में रूढ़ हो चुके नैतिक आग्रहों के कारण हमारे पास सेक्सुएलिटी को अभिव्यक्त करने की उचित भाषा नहीं है। कृष्णा जी ने इस पर विचार भी किया और इस भाषा का संधान भी किया। 'सोबती-वैद संवाद' में स्त्रीवाद और स्त्री लेखन पर विचार करते हुए कृष्णा जी ने अपनी धारणा स्पष्ट की है कि रचनात्मक कर्म में स्त्री और पुरुष में भेद नहीं किया जाना चाहिए। हमारे समाज को उनकी भिन्नताओं के साथ-साथ उनकी समानताओं को देखने की भी आदत होनी चाहिए। बदलते समय में बदलते स्त्री स्वर की पहचान करते हुए वे कहती हैं–"अब स्त्री अपनी अभिव्यक्ति में सेक्सुअल मनोवृतियों और प्यार को लेकर अपने भावों को भी व्यक्त करने लगी है। इस पर लिखने का पहले पुरुष का ही अधिकार रहा। अब यह चमत्कार स्त्री के पाले में है। वह स्वयं को उद्घाटित कर रही है और अपने वैभव में एक साथ पुरुष के पुरुषत्व और उसकी सीमाओं को भी देख रही है। अब वह अपने एकत्व में अपने को भी ढूँढती है। और पुरुष के स्वरूप को भी नयी नज़र से, नई भाषा में गढ़ रही है, नयी शब्द ढूँढ रही है। पुरुष के नीचे पड़े रहने की दैहिक प्रताड़ना से उबर रही है।" (पृष्ठ-148-149) स्त्री और भाषा तथा स्त्री-भाषा के द्वन्द्व को उद्घाटित करने वाला यह महत्त्वपूर्ण कथन है। स्त्री का अपनी भाषा से वही रिश्ता है जो पुरुष का होता है; लेकिन स्त्री-भाषा के स्तर पर यह स्त्री द्वारा अभिव्यक्ति के नए रूप का संधान है। कृष्णा सोबती ने अपने साहित्य में भाषा के इस रूप को अर्जित किया है जो अलग-अलग रचनाओं में साफ दिखाई देता है। 'मित्रो' में यह भाषा देसी ठाठ के साथ उभरती है तो 'दिलो-दानिश' में खास नफासत के साथ। इस भाषा की एक उपलब्धि 'सूरजमुखी अँधेरे के', में दिखाई पड़ती है, जहाँ रचनाकार रत्ती और दिवाकर के प्रणय-प्रसंग को शब्दबद्ध करती हैं। उस समय तक किसी स्त्री रचनाकार ने दैहिक मिलन की इस पूरी प्रक्रिया को शब्दों में नहीं सिरजा था। वर्णन में वे एक साथ दैहिक और देहातीत को एक साथ एक बिम्ब की तरह उतार देती हैं–

"रत्ती मगन-सी चुपचाप लेटी रही।

छलछलाते बढ़-बढ़ आते ज्वार की स्तुति में दिवाकर ने रत्ती को भींचा और गले के बटन खोल डाले। हाथ से सुख दिया। सुख लिया। कमर पर के बंद खोले और बार-बार उस जल-थल को चूमते चले गए।" (सूरजमुखी अँधेरे के, पृष्ठ-127) देह से देह को पाने का यह अद्भुत दृश्य बिम्ब है, जिसके लिए लेखिका ने पूजा-स्थल का रूपक गढ़ा है–"धीमी हो गई आँच की लौ में डूबा कमरा कोई पूजा-स्थल हो। एक वेदिका पर साथ-साथ लेटे हुए वे दोनों देवगण हों। देवता। अपने-अपने तन में छिपे स्रोतों से जिन्हें अमृत की बूंदें पानी हों। भगीरथी खींच लानी हो।" (वही)

कृष्णा सोबती के साहित्य में जितना महत्त्व शब्दों की मुखरता का है उतना ही उन चुप्पियों का भी है जो शब्दों और पंक्तियों के बीच अंतरध्वनित होती हैं। 'सिक्का बदल गया' की शाहनी

एक शब्द अतिरिक्त नहीं बोलतीं, लेकिन उनकी चुप्पी में दर्द का सागर हिलोरे लेता है। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो,अपनी देह पर हुई हिंसा को किन्हीं शब्दों में बयान नहीं करती, बस, 'पड़ी रही ...पड़ी रही...पड़ी रही...उठी नहीं' में कहती है। वेदना और प्रतिकार की यह अनूठी भाषा है जिसे कृष्णा सोबती ने अपनी सुचिन्तित रचनात्मक यात्रा में अर्जित किया।

कृष्णा जी के लिए भाषागत चिंतन लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के समानांतर है। उनके एक लेख का शीर्षक है 'लोक की प्रतिष्ठा में लेखक का गणतंत्र है'। इस लेख में उन्होंने शब्द की उस सत्ता को स्वीकार किया है जो अव्यक्त को व्यक्त करते हुए जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को मूर्त करता है। वे कहती हैं–''दोस्तो, भाषा इस लोक की जीवंतता का रोमांस है।" (शब्दों के आलोक में पृष्ठ-280) और भाषा की जीवंतता की पहचान उन्हें होती है, 'भारतीय भाषाओं के विशाल परिवार' की ओर देखने से। वे इस पर विचार करते हुए लिखती हैं–''हमारी भारतीय विविधता का लोकतंत्र जनमानस में स्थित है। अनेक भाषाई मुखड़े अपनी विविधता में उस केन्द्रीय इकाई को प्रस्तुत और तरंगित करते हैं जिसे हम भारतीयता के नाम से पुकारते हैं।" (वही, पृष्ठ-281) अपने चिंतन और लेखन में कृष्णा सोबती ने भाषा के इसी आदर्श को प्राथमिकता दी। भले ही इसके लिए उन्हें आलोचना सहनी पड़ी या साहित्यिक संवाद और बहस में उलझना पड़ा हो। उन्होंने सरल समझौते कभी नहीं किए। उनके लिए भाषा का लक्ष्य 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाना तो है ही साहित्यिक संस्थाबद्धता को चुनौती देना भी है।

डॉ. रेखा सेठी
2ए, जमुना रोड, प्रथम तल,
सिविल लाइन, दिल्ली-110054